The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 4 | Issue 2 | February 2026
ISSN: 2583-973X (Online), SJIF IF: 5.6
Website: www.theacademic.in

रेने डेकार्ट की संदेह-पद्धति में आत्म-चेतना: ज्ञानमीमांसात्मक आधार तथा तत्वमीमांसीय परिणाम

डॉ0 शंकर सुमन सिंह भदौरिया

गेस्ट फैकल्टी (दर्शनशास्त्र विभाग), पीएम.सी.ओ.ई. शासकीय एस.एम.एस.पी.जी. कॉलेज शिवपुरी, मध्यप्रदेश, क्रांतिवीर तात्या टोपे विश्वविद्यालय, गुना, मध्यप्रदेश, भारत, ई-मेल: rajesh982624@rediffmail.com, https://orcid.org/0009-0003-9405-9424

DOI : https://doi.org/10.5281/zenodo.18976812

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Accepted: 15-02-2026

Published: 10-03-2026

Keywords:

आत्म-निश्चय, द्वैतवाद, ज्ञान-मीमांसा, गणितीय-प्रणाली, मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं, प्रेत-तर्क, संशयवाद, संदेह-पद्धति, स्वप्न-तर्क, शरीर-मन, तत्व-मीमांसा, तर्कवाद, आत्मानुभूति।

ABSTRACT

प्रस्तुत शोध-पत्र 17वीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक तथा आधुनिक दर्शन एवं बुद्धिवाद के जनक रेने डेकार्ट की संदेह-पद्धति में आत्म-चेतना: ज्ञानमीमांसात्मक आधार तथा तत्वमीमांसीय परिणाम का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करना है। इस शोध-पत्र का मूल ध्येय यह ज्ञात करना है कि डेकार्ट की सन्देह-प्रणाली यथार्थ में सर्वग्राही है या सिर्फ तार्किक निष्कर्ष का कल्पनात्मक आभास है। इस हेतु विविध केंद्रीय तथ्यों का इस शोध-पत्र में अन्वेषित किया है। क्या डेकार्ट की संदेह-पद्धति संशयवाद की समर्थक है या यथार्थ-ज्ञान प्राप्ति की पद्धति है?, क्या आत्म-चेतना यथार्थ-ज्ञान की अविचलता का आधार स्तंभ है? क्या द्वैतवाद (शरीर-मन) आत्मानुभूति का परिणाम है या तत्वमीमांसीय विस्तार? डेकार्ट के दर्शन का मूल ध्येय ज्ञान के लिए ऐसे संदेहातीत आधार को खोजना था, जो दर्शन की इमारत को गणित के समतुल्य खड़ा करने की बुनियाद बन सके। इस हेतु उन्होंने इंद्रिय-सन्देह, प्रेत-सिद्धांत, गणितीय-ज्ञान एवं स्वप्न-सिद्धांत को अस्थायी रूप से संदेह के दायरे में रखा। इस संदेह के प्रत्युत्तर में "मैं सोचता हूं, इसलिये मैं हूं" (cogito ergo sum) ऐसा आत्म-निश्चयात्मक सृजित शब्द रूप है, जो संदेह प्रक्रिया की कसौटी से प्रमाणित है। प्रस्तुत शोध-पत्र इस प्रमाणिकता को ज्ञात करने का यत्न है कि यह सृजित शब्द मात्र प्रत्यक्ष आत्मानुभूति का कारक है या तार्किक निष्कर्ष। क्योंकि इसकी तत्वमीमांसीय अवधारणा सदैव ही

आलोचनात्मक परिधि की रही है।

प्रस्तावना -

17वीं शताब्दी का यूरोपीय मध्यकालीन युग बौद्धिक इतिहास के संक्रमण एवं पुनर्संरचना का काल था। इस काल में बौद्धिक चिंतन तथा सत (सत्य) का मूल आधार विद्वतापूर्ण परंपरा, अरस्तुवादी तर्क तथा ईसाई धर्मशास्त्र के नियमों पर केंद्रित था।[i]

जहां एक ओर नूतन वैज्ञानिक अन्वेषणों ने यूरोपीय संस्कृति पर वैचारिक आघात किया तो दूसरी ओर नवीन प्रयोगात्मक दृष्टिकोण ने मानसिकता में परिवर्तन के बीज अंकुरित कर दिये। वैज्ञानिक क्रांति ने इन सभी विचारधाराओं के विरुद्ध प्रत्यक्ष चुनौती दी क्योंकि गैलीलियो और न्यूटन के अन्वेषणात्मक निष्कर्षों ने मानव-ज्ञान और उसकी सार्वभौमिकता पर प्रत्यक्ष प्रश्न किये साथ ही प्रोटेस्टेंट (धार्मिक सुधार) आंदोलन ने इन प्रश्नों को और भी तीक्ष्ण बना दिया। इन जटिल प्रश्नों से ज्ञान के स्रोत, उसकी प्रामाणिकता तथा सत्य की प्रकृति को ज्ञात करने के उद्देश्य से व्यापक सांस्कृतिक परिवर्तन हेतु पुनर्विचार होना प्रारंभ हो गया। जैसे-जैसे वैज्ञानिक अन्वेषण होते जा रहे थे व्यक्ति और समाज की मानसिक धारणाओं में परिवर्तन होना प्रारंभ हो गया। परिणाम स्वरुप ज्वलंत प्रश्न था "यदि इंद्रियां भृमित हो जाएं और परंपराऐं मिथ्या सिद्ध हों तो ज्ञान की यथार्थता का अंतिम आधार किसे माना जावेगा।[ii]

यह जटिल प्रश्न ही डेकार्ट के संदेह-पद्धति की ऐतिहासिक उपज का कारण था। डेकार्ट के दर्शन का लक्ष्य दार्शनिक वाद-विवाद तक सीमित रखना नहीं था बल्कि वे समस्त ज्ञान के लिए निर्विवाद आधार तथा गणितीय सिद्धांत जैसी समतुल्यता प्रदान करने वाली प्रणाली को विकसित करना चाहते थे।

डेकार्ट ने अनुभवात्मक आधार पर तर्क दिया कि प्रत्यक्ष ज्ञान (इंद्रिय-ज्ञान) मिथ्या हो सकता है, स्वप्न और जागृत अवस्था के मध्य भेद अस्पष्ट होते हैं यहां तक कि गणितीय सत्य भी प्रेत (सर्वशक्तिमान दुष्ट) द्वारा भ्रमित किया जा सकता है।[iii] किंतु संदेह के अग्रिम चरण में एक ऐसी स्थिति स्वतः निर्मित होती है जहां संदेह अपने अस्तित्व को स्वयं ही प्रमाणित करता है। यदि मैं संदेह कर रहा हूं तो निश्चित ही "मैं" एक मीमांसात्मक सत्ता में विद्यमान रहता है, जो आत्म-चेतना की जननी है।[iv]

डेकार्ड ने ज्ञान के इस संकट की समस्या का निराकरण आत्म-चेतना में खोजा और इसी आधार पर उन्होंने बाह्य जगत के स्थान पर आत्म-चेतना को ज्ञान का प्रथम आधार माना। डेकार्ट आधुनिक तर्कवाद के प्रवर्तक होने के नाते उन्होंने ज्ञान का मूल स्रोत बुद्धि पर आधारित माना, न कि सिर्फ इन्द्रियानुभव पर आधारित।[v]

तर्कवादानुसार कुछ सत्य जन्मजात या आत्म-स्पष्ट (गणितीय सत्य के अनुरूप) होते हैं, जो संदेह से परे तथा आत्म-निश्चय के समतुल्य है।[vi]

प्रारंभिक कुछ दार्शनिकों ने डेकार्ट को "निश्चितता के दार्शनिक" नाम से अलंकृत किया है क्योंकि डेकार्ट की संदेह-पद्धति संशयवाद की समर्थक नही अपितु संशय पर पूर्ण विजय का साधन बनी और आत्म-चेतना को ज्ञान का अचल आधार स्वरूप प्रदान किया।[vii]

कुछ पारंपरिक आलोचनात्मक अवलोकनों में उल्लेख है यदि आत्म-चेतना के द्वारा आत्मा की तत्वमीमांसीय सत्ता स्थापित होती है, तो वह ज्ञान को प्रभावित करेगी। डेकार्ट ने इस समस्या का समाधान चेतन आत्मा तथा भौतिक प्रकृति के विस्तारित पदार्थों के मध्य व्याप्त मौलिक विषमता (द्वैतवाद) के माध्यम से निकाला। कुछ विद्वानों का यह भी विरोधात्मक मत है कि डेकार्ट के "मैं" को स्थायी आत्म-सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है या चिंतन क्रिया के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु प्रयोग किया गया है। यह वैचारिक विवाद आलोचनात्मक परम्परा के सृजन का मूल आधार बना।[viii]

इस शोध-पत्र की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि तर्कवाद, तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आत्म-चेतना पर आश्रित होने से समकालीन दार्शनिकों की ज्ञान प्रमाणन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ही हो जाती है।

1. तर्कवाद के अनुसार

तर्कवाद आधुनिक दर्शन परंपरा की ऐसी पृष्ठभूमि है, जहां बुद्धि को ज्ञान के अंतिम स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित किया है- जैसे दर्शन यदि गणितीय प्रणाली की स्पष्टता तथा विशिष्टता का पूर्णतः अनुसरण करे तो निश्चित ही अविचल यथार्थ तथ्यों की प्राप्ति सहज ही कर लेगा। यहां स्पष्टता का तात्पर्य है (संदेह रहित प्रत्यक्ष मन के विचार, जो स्वतः सत्य प्रतीत हो) और विशिष्टता का तात्पर्य है (ऐसे सुस्पष्ट विचार जिन्हें किसी भी अन्य वस्तु या विचार से भ्रमित न किया जा सके)।

"मैं सोचता हूं" वाक्य में व्याप्त स्पष्टता तथा विशिष्टता किसी भी तरह के परस्पर आत्म-विरोध को उत्पन्न नहीं करते हैं।[ix] तर्कवाद में जन्मजात विचारों को स्वीकृति प्रदान की गई है क्योंकि डेकार्ट आत्मा के विचार, गणितीय सत्य तथा ईश्वर को जन्मजात मानते हैं , यह मत अनुभववाद से पृथक है।[x]

2. ज्ञानमीमांसा के आधार पर सृजित विचार

"हम क्या और कैसे जानते हैं" डेकार्ट का चिंतन प्रयुक्त विचार से उत्पन्न सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। संदेह-पद्धति का मूल लक्ष्य समस्त संदेहास्पद विश्वासों को अस्थायी रूप से अस्वीकृत कर निर्विवाद

आधार तक पहुंचाना है। डेकार्ट आधारवाद के प्रवर्तक होने के नाते स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान-प्रणाली, मूलभूत तथा आत्म-स्पष्ट यथार्थता पर आश्रित है और आत्म-निश्चय उसका मूल आधार है। इस संपूर्ण स्वरूप में आत्म-निश्चय ही ज्ञान-प्रणाली का आर्चिमीडियन पॉइंट (जो संदेह से परे तथा यथार्थ ज्ञान का मूल आधार बिन्दु) माना गया है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण में संशय और निश्चितता का परस्पर द्वन्द्व केंद्रीय है। डेकार्ट महोदय ने संशय को विधि स्वरूप में स्वीकार किया है, जो इन्द्रिय-सन्देह, स्वप्न-तर्क तथा दुष्ट-प्रेत तर्कों के आधार पर इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में बचा हुआ भाग ही यथार्थ ज्ञान बनता है। आत्म-निश्चय का ज्ञानमीमांसीय महत्व आत्म-प्रत्यय पर आधारित है।[xi]

आत्म-निश्चय मात्र ज्ञानमीमांसात्मक तथ्य नहीं अपितु तत्वमीमांसीय परिणाम भी है। डेकार्ट इसे Res Cogitans (जिसकी प्रकृति-मानसिक एवं चेतनात्मक, गुण- अविस्तार एवं चिंतनशील, अस्तित्व-अदृश्य तथा मन या आत्मा के अनुरूप) तथा Res Extensa (जिसकी प्रकृति-भौतिक एवं पदार्थ रूप में, गुण-विस्तार एवं अचिंतनशील, अस्तित्व-दृश्य तथा शरीर या प्रकृति के अनुरूप) के परस्पर असमानता भाव में स्थापित किया है। द्वैतवादानुसार शरीर और मन दोनों भिन्न तत्व हैं जिसमें मन- चेतन, अविस्तारित, अदृश्य तथा चिंतनशील वस्तु है जबकि शरीर-भौतिक, विस्तारित और दृश्य है। इस सैद्धांतिक स्वरूप में द्वैतवाद को आत्म-निश्चय का परिणाम न मानकर तत्वमीमांसीय विस्तार को स्वीकार किया गया है।[xii]

तत्वमीमांसा का मूल प्रश्न है कि "अस्तित्व क्या है" डेकार्ट इस प्रश्न का उत्तर आत्म-चेतना के माध्यम से इस प्रकार देते हैं कि "मैं सोचता हूं" कथन से स्पष्ट होता है कि सोचने की क्रिया स्वयं को पहचानती है। आत्म-चेतना की मूल विशेषता उसकी प्रत्यक्षता पर निर्भर होने से बाह्य वस्तुओं के ज्ञान में मध्यस्थ होना संभव है जबकि आत्म-प्रत्यय पूर्णतः तात्कालिक प्रत्यक्ष हैं, जो निर्विवाद होते हैं। यही आत्म-चेतना की प्रमुख विशेषता है। आत्म-चेतना अनुभवों को संगठित कर विधिक विचारों और संवेदनाओं में "मैं" के रूप में संयोजित होती है यही संयोजन प्रक्रिया ज्ञान की संरचना के लिए अनिवार्य है।[xiii]

3. डेकार्ट के दर्शन की संदेह-पद्धति

डेकार्ट के दर्शन का केंद्रीय विषय संदेह-पद्धति है, जो स्थायी संशयवाद न होकर, यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का अस्थायी रणनीतिक उपकरण है। डेकार्ट का मूल ध्येय संदेहप्रद विश्वासों को अस्थायी रूप से निष्कासित कर अविचल आधार प्रदान करना है, जो पूर्णतः संदेह मुक्त हों। इनमें इंद्रिय-संदेह, स्वप्न-तर्क, गणितीय-संदेह, प्रेत-तर्क तथा पूर्ण-संदेह की परिधि आदि शामिल हैं।[xiv]

3.1. इंद्रिय-संदेह

डेकार्ट ने अपने संदेह का प्रारंभ इंद्रिय ज्ञान से किया है, जो परम्परागत ज्ञानमीमांसा में यथार्थ ज्ञान का प्रमुख साधन मानी गई है किन्तु डेकार्ट ने इन्हें भी सन्देह की परिधि में रखा है। उदाहरण स्वरूप दूरस्थ वस्तुऐं अपने मूल स्वरूप से अपेक्षाकृत कुछ लघु प्रतीत होती हैं, जल में रखी हुई वस्तु कुछ वलय आकार में दृष्टिगोचर होती हैं। आदि उदाहरण इंद्रिय ज्ञान की विश्वसनीयता पर प्रत्यक्ष प्रश्न करते हैं। अतः इंद्रियों पर यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के लिए पूर्णतः आश्रित होना तर्कसंगत नहीं है। हालांकि डेकार्ट इंद्रिय-संदेह को पूर्ण-संदेह के रूप में नहीं बल्कि ज्ञान की बाह्य बुनियाद को अस्थिर करने वाला कारक मानते हैं।[xv]

3.2. स्वप्न-तर्क

स्वपनावस्था में ऐसी वस्तुओं और घटनाओं की अनुभूति होती है, जो यथार्थ तुल्य प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में हम वे सभी अनुभव ग्रहण करते हैं, जो जागृत अवस्था में होते हैं। स्वपनावस्था में हमें यह बोध नहीं होता कि हम स्वप्न में हैं या जाग्रत अवस्था में! अत: संभव है कि वर्तमान की जागृत अवस्था भी एक प्रकार का स्वप्न हो।

स्वप्न-तर्क के द्वारा डेकार्ट बाह्य-जगत के अस्तित्व पर संदेह व्यक्त करते हुए कहते हैं कि स्वप्न तथा जागृत-अवस्था के अनुभव में भेद कर पाना संभव नहीं है क्योंकि बाह्य वस्तुओं की यथार्थता में संशय बना रहता है। हालांकि डेकार्ट ने स्वप्न तर्क को पूर्णतः संदेहास्पद नहीं माना है क्योंकि बाह्य वस्तुऐं कितनी भी भ्रमित करने वाली क्यों न हों, स्वप्न के समान सरल और सार्वभौमिक तत्वों से सृजित होती हैं।[xvi]

3.3. प्रेत-तर्क

डेकार्ट ने स्वप्न-तर्क की परिधि से बाहर निकलने हेतु प्रेत-तर्क की अद्वितीय कल्पना को अपने दर्शन में कुछ इस प्रकार से लिपिबद्ध किया है- अनुभव कीजिये कि सर्वशक्तिमान दुष्ट-प्रेत आपको हर तथ्य, वाक्य अथवा विषय से भ्रमित कर रहा है, तो निश्चित रूप से आपको गणितीय संख्या 2+3= 5 जैसी सरल और स्पष्ट गणना भी संदेहास्पद अनुभव होने लगेगी। यह तर्क-संदेह को उसके चर्मोत्कर्ष तक ले जाती है। ऐसी अवस्था में न केवल इंद्रिय-ज्ञान या बाह्य-जगत संदेहास्पद लगता है बल्कि गणितीय गणनाऐं भी संदिग्ध प्रतीत होती हैं। इस प्रेत-तर्क का मूल ध्येय अपनी सत्ता के अस्तित्व की सिद्धि करना नहीं है। यदि आपने किसी भी स्तर पर कल्पनात्मक संदेह को स्वीकार कर लिया तो उस स्तर पर ज्ञान-प्रणाली का विघटन होना निश्चित है, ऐसी स्थिति में किसी भी स्तर का विश्वास विश्वसनीय नहीं रहेगा।[xvii]

3.3. गणितीय-संदेह

हालांकि गणित को पारंपरिक तौर पर यथार्थता और अपरिवर्तनशीलता का क्षेत्र माना गया है। डेकार्ट ने भी इस क्षेत्र को मूलतः संदेह मुक्त ज्ञान रूप में स्वीकार किया है फिर भी दुष्ट-प्रेत की संभावना गणितीय प्रमाणों को संधिग्ध

बना देती है। यह संदिग्धता गणितीय संरचना को नहीं बल्कि मानवीय संज्ञानात्मक क्षमता को चुनौती देने जैसा है। गणितीय-संदेह की यह जटिलता गणितीय गणना में न होकर हमारी मानसिकता में व्याप्त होती है। डेकार्ट इसी सोपान पर अनुभव करते हैं कि संदेह प्रक्रिया स्वयं का त्याग नहीं कर पाती है फिर भी किसी-न-किसी रूप में "मैं" अस्तित्व में विद्यमान रहता है। यहीं से आत्म-चेतना की उत्पत्ति होती है।[xviii]

3.4. पूर्ण-संदेह की परिधि

डेकार्ट का संदेह पूर्णसा प्रतीत होता है किंतु यथार्थ में इस संदेह की एक सीमित परिधि है। संदेह की सभी अवस्थाओं में मीमांसा की क्रिया अपरिहार्य है। उदाहरणार्थ -

यदि मैं संदेह करता हूं, तो मैं सोचता हूं।

यदि मैं सोचता हूं, तो मैं अस्तित्व में हूं ।

उक्त कथन में संशय स्वयं अपने आधार को स्पष्ट कर रहा है। संदेहगत यह प्रयास ही आत्म-चेतना का मूल प्रमाण है।

डेकार्ट की संदेह-पद्धति अंततः संशयवाद को अस्वीकार करती है। जहां संशयवाद का उद्देश्य ज्ञान की असंभवता को दृढ़ करना है तो दूसरी ओर डेकार्ट की संदेह-प्रणाली का उद्देश्य ज्ञान की नींव तक पहुंचाने का साधन बनना है। इस प्रक्रिया में संदेह को सकारात्मक सृजन का प्रमुख बीज माना गया है। जब समस्त बाह्य आधार क्षीण हो जाते हैं, तो आत्म-चेतना ही ज्ञान की बुनियाद बनती है।[xix]

सारांश -

प्रस्तुत शोध-पत्र रेने डेकार्ट की संदेह-पद्धति में आत्म-चेतना का अवलोकन, ज्ञानमीमांसा को आधार तथा तत्वमीमांसा को परिणाम बनाकर किया गया है।

डेकार्ट की भूमिका किसी अंतिम सत्य के प्रस्तोता के रूप में नहीं अपितु आत्म-ज्ञान और अस्तित्व सिद्धि को नूतन दिशा देने वाले शुभचिंतक के रूप में हुई है। रेने डेकार्ट की सन्देह-पद्धति तथा द्वैतवाद न केवल ऐतिहासिक महत्व रखते हैं बल्कि आधुनिक तर्कवाद में व्यक्तिवाद, आत्म-चेतना तथा ज्ञानमीमांसा को उसके मूल में स्थापित किया है। डेकार्ट ने 17वीं शताब्दी की बौद्धिक क्रांति में व्याप्त समस्त जटिलताओं का समाधान आत्म-निश्चय में ही खोजा, जो डेकार्ट की संदेह-पद्धति में आत्म-निश्चय, तर्कवाद, ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा तथा आत्म-चेतना से परस्पर संबंधित है।

- तर्कवाद- आत्म-निश्चय को आत्म-प्रत्यय के यथार्थ रूप में स्वीकारता है।
- ज्ञानमीमांसा- इसे मुख्य आधारभूत संरचना प्रदान करता है।
- तत्वमीमांसा- इसके द्वैत रूप के परिणामों का वर्णन करता है।
- आत्म-चेतना- इसके नियमन और उसकी अनुभवात्मक प्रत्यक्षता को दर्शाते हैं।

डेकार्ट का संदेह-दर्शन नकारात्मक तथा संशयवाद न होकर ज्ञान प्राप्ति की रचनात्मक विधि है। उनके दर्शन में इंद्रिय-सन्देह, स्वप्न-तर्क तथा दुष्ट प्रेत-तर्क का क्रमिक रूप ज्ञान के बाह्य स्तर को चुनौती देते हैं। जिससे अंततः आत्म-चेतना की अपरिहार्यता प्रदर्शित होती है और संदेह स्वयं ही ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन बन जाता है।

आत्म-चेतना को सहज तर्क के माध्यम से समझ पाना जटिल है क्योंकि यह न तो अंतर्ज्ञान है और न ही औपचारिक निष्कर्ष! यह तो प्रदर्शनात्मक आत्मानुभूति है। जिसमें सोचने या मीमांसा करने की प्रक्रिया स्वयं ही अपने अस्तित्व सिद्धि का प्रमाण बन जाती है, जो आत्म-चेतना की आत्म-संदर्भित संरचना आधुनिक ज्ञानमीमांसा के दृष्टिकोण की बुनियाद सृजित करती है।

शरीर-मन के द्वैतवाद में चेतना महत्वपूर्ण है, जो Res Cogitans तथा Res Extensa के परस्पर क्रिया का परिणाम है और यही चरण आगे चलकर शरीर-मन की समस्या के रूप में प्रकट हुआ।

अंततः डेकार्ट का सम्पूर्ण दर्शन यही दर्शाता है कि कोई भी सिद्धांत अंतिम सत्य नहीं है, यह तो संवाद और पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया का सतत परिणाम है। डेकार्ट की समग्र अंतर्दृष्टि आत्म-चेतना को ज्ञान के आधार रूप में स्वीकारती है, जो वर्तमान में भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी 17वीं शताब्दी में रही होगी।

References:

[i] रसेल, बर्ट्रांड. (2008). पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (हिन्दी अनुवाद). नई दिल्ली राजकमल प्रकाशन, पृ. 540-555.

[ii] मैकग्राथ, ए. ई. (2012). ईसाई धर्म का इतिहास: एक परिचय (हिन्दी अनुवाद). नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, पृ. 155-163.

[iii] डेकार्ट, रेने. (1996). प्रथम दर्शन पर ध्यान (जे. कॉटिंघम, हिन्दी अनुवाद). कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस. पृ. 15-16.

[iv] डेकार्ट, रेने. (2008). प्रथम दर्शन पर ध्यान (हिन्दी अनुवाद). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 16-21

[v] डेकार्ट, रेने. (1996). प्रथम दर्शन पर ध्यान (जे. कॉटिंघम, हिन्दी अनुवाद). कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, पृ. 16-18.

[vi] वही, पृ. 15-16.

[vii] वही, पृ. 16-18.

[viii] डेकार्ट, रेने. (1985). डेकार्ट के दार्शनिक लेख खंड-2 (जे. कॉटिंघम, आर. स्टुथॉफ़ एवं डीमर्डोक, हिन्दी अनुवाद). कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, पृ. 17-20.

[ix] *फ्रैंक, थिली.* (2010). पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (हिन्दी अनुवाद). राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. 254-263

[x] डेकार्ट, रेने. (1996). प्रथम दर्शन पर ध्यान (जे. कॉटिंघम, हिन्दी अनुवाद). कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, पृ. 45-52

[xi] शर्मा, सी. डी. (2015). भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पृ. 105-125.

[xii] चतुर्वेदी, डी. एन. (2012). पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (खंड-2). राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी. पृ. 110 -120

[xiii] डेकार्ट, रेने. (1996). प्रथम दर्शन पर ध्यान (जे. कॉटिंघम, हिन्दी अनुवाद). कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 15-27

[xiv] वही, पृ. 09-20.

[xv] वही, पृ. 11-17.

[xvi] वही, पृ. 17-20.

[xvii] वही, पृ. 17-23.

[xviii] वही, पृ. 23-24.

[xix] वही, पृ. 24-31.